कार्यालय आर्षग्रन्थावलि

(१)–इस कार्यालय से संस्कृत के उत्तम उत्तम पुस्तक हिन्दी भाष्य समेत प्रकाशित होते रहते हैं।

(२)–हर महीने कोई नया ग्रन्थ प्रकाशित होता है, अथवा एक ही ग्रन्थ बड़ा हो, तो कई महीनों में प्रकाशित होता है।

(३)–वार्षिक मू० ३) अगाऊ भेजकर आप वर्ष भर इन ग्रन्थों को ले सक्ते हैं।

(४) इस तरह नियत ग्राहक होजाने से यह ग्रन्थ आपको एक तो छपते ही मिल जाएंगे, और दूसरा सस्ते पड़ेंगे। और इसके सिवाय जो पहले के छपे हुए ग्रन्थ आप मंगवाएंगे, उनमें भी आपको विशेष रिआयत मिलेगी।

(५) इस कार्यालय से और भी सब प्रकार की पुस्तकें आप को रिआयत से मिलेंगी।

पत्र व्यवहार इस पते से करें—

मैनेजर आर्षग्रन्थावलि लाहौर।

पुस्तकों की सूची आगे देखो—

संस्कृत विद्या के अनमोल रत्न

यदि संस्कृत विद्या के अनमोल रत्न थोड़े मूल्य में और आसानी से पाना चाहते हो, तो इन पुस्तकों को पढ़ो–इन सब का भाष्य हिन्दी भाषा में किया गया है जिसको आप आसानी से समझ लेंगे–और मूल संस्कृत पाठ भी साथ २ है—

ओ३म् ।

वेदामृत प्रवाह

एक ईश्वर पर विश्वास

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चदारत ।
दधाना इन्द्र इद् दुवः । (ऋग० १ । ४ । ५)
उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥

चाहे हमारे निन्दक कहें, कि तुम जो केवल इन्द्र की ही पूजा करते हो, (इस स्थान से) और दूसरे स्थान से भी निकल जाओ।५। और चाहे भक्तजन हमें सौभाग्य वाला बतलावें, पर हे अद्भुत कर्मों वाले इन्द्र! हम तेरी ही शरण (पनाह) में रहेंगे। ६।

परमात्मा पर कैसा गहरा विश्वास, कितना बड़ा भरोसा, इन मन्त्रों में गाया गया है। निन्दक हमारी निन्दा करें, न केवल निन्दा करें, अपितु यहां वहां कहीं टिकने न दें, तो भी हे भगवन्! हम तुम्हारी शरण नहीं छोड़ेंगे। तुम्हारी भक्ति में अटल बना रहने के लिये जितना बल तुम्हारे भक्तों की प्रशंसा हमें देगी, उतना ही बल निन्दकों की निन्दा भी देगी। यह विश्वास है, जिसको तुम हे पढ़ने वालो! इन मन्त्रों से सीख सकते हो। और ध्यान रखो, यह विश्वास जैसा तुममें हो, वैसा ही तुम्हारे माता पिता भाई बहिन और पुत्र स्त्री में भी अटल हो। देखो मन्त्र में बहुवचन सिखलाया है, 'हमें, हमारे' 'मुझे, मेरे' ऐसा एक वचन नहीं है, सो तुम सारे परिवार को परमात्मा पर ऐसा दृढ़ विश्वासी बनाओ, कि सभी

मिलकर एक स्वर से कहो 'हम स्तुति में, निन्दा में, मान में अपमान में, सुख में दुःख में, सरदी में गरमी में, हर हालत में हे भगवन्! तेरे ही शरण में रहेंगे'।

जगत् का सारा व्यवहार विश्वास पर ही स्थिर है। विश्वास को हटालो, तो एक पैसे के सौदे का भी लेन देन कठिन होजाए, ग्राहक कहे, मुझे पहले सौदा दो, पीछे पैसा दूंगा, और दुकानदार कहे, मुझे पहले पैसा दो, तब सौदा दूंगा। जब ऐसा दोनों को अविश्वास हो, तो बस सौदा हो लिया। पर ऐसा कहीं नहीं होता, तुम विश्वास करते हो, और पहले पैसा देदेते हो, वह विश्वास करता है, और पहले सौदा देदेता है। यह विश्वास है, जो तुम्हारे व्यवहार के लिये जरूरी है। अब क्या परमार्थ के लिये इस की जरूरत नहीं, परमार्थ के लिये इस से कहीं बढ़कर विश्वास की जरूरत है, पर रखते इतना भी नहीं हो। लोग कहते हैं, कि ईश्वर के साक्षात् दर्शन नहीं होते! नहीं होते इसलिये कि 'ईश्वर है' ऐसा पूर्ण विश्वास तुम्हारे अन्दर नहीं है। 'ईश्वर है' यह अटल विश्वास अपने आत्मा में जगाओ, तब तुम निःसन्देह उसके दर्शन पाओगे।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥
(कठ ६।१३)

'है' बस ऐसा ही उसको जानो और तत्त्वरूप से पहचानो, इन दोनों बातों में से जिसने 'है' ऐसा पहले जान लिया है, उसके (देखने के लिये) तत्त्व रूप साफ होजाता है।

ईश्वरपर विश्वास पाप से बचाता है। भगवान्मनु कहते हैं:—

सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः।

सर्वमात्मनि संपश्यन् नाधर्मे कुरुते मनः ॥ १२।११८

मन को एकाग्र करके सब व्यक्त अव्यक्त को आत्मा में देखे, सब को आत्मा में देखता हुआ कभी अधर्म में मन नहीं लगाता है।

ईश्वर पर विश्वास रखने वाला एक चोर का लड़का।

एक चोर अपने पड़ोसी के खेत से अन्न चुरा लाया करता था। उसका एक दस वर्ष का लड़का था, जो बताशों के लोभ से उसी गाँव के एक पण्डित से कथा सुन आया करता था। एक दिन वह चोर अपने उस लड़के को साथ लेकर खेत पर गया। अन्न चुराने के पहिले पिता ने चारों ओर देखा, कि कोई मनुष्य इधर उधर से आता तो नहीं है। क्योंकि उसने सोचा, कि यदि कोई मुझे चोरी करते देख लेगा, तो मैं जरूर पकड़ा जाऊंगा, और मुझे दण्ड मिलेगा।

जब किसी भी ओर से उसे कोई दिखाई न दिया, तब वह अनाज काटकर थैले में भरने लगा। इतने में उसका लड़का कहने लगा, पिता जी आपने एक तर्फ नहीं देखा। पुत्र के मुँह से इतनी बात निकलते ही पिता ने थैला झट से थोड़ी दूर फैंक दिया, और घबरा कर बोला 'किस तर्फ? क्या कोई आता है?' लड़के ने उत्तर दिया, ऊपर की ओर, ईश्वर आपको देख रहा है। चोर इस से पहले कभी मन में नहीं लाया था, कि ईश्वर मुझे देखता है, आज उसके प्यारे लड़के ने उसका ध्यान इस तरफ खींच दिया, वह बहुत पछताया, और उसी दिन से उसने चोरी करना छोड़ दिया। इस तरह ईश्वर पर विश्वास रखने वाले पुत्र ने पिता को नरक से बचा लिया ऐसे ही पुत्र के विषय में कहा है:—

पुन्नाम्नो नरकात् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः
तस्मात् पुत्र इति ख्यातःस्वयमेव स्वयम्भुवा ।

पुत्र पिता को नरक से बचाता है, इस लिये स्वयमेव ब्रह्मा ने पुत्र*यह नाम प्रसिद्ध किया है।

सो तुम हरएक काम करते समय ध्यान में रक्खो कि 'ईश्वर हमें देखता है' ॥

सत्यव्रत का ईश्वर पर विश्वास।

भारद्वाज गोत्री एक सत्यव्रत नामी ब्राह्मण हुआ है, वह बड़ा सुशील धर्मात्मा और ईश्वर-भक्त था। उसने अपने उपदेशों से बहुत से लोगों के जीवन को पलटा दे दिया। लोग उस के उपदेश सुनकर सुधरते जाते थे। वह भी ढूंढ २ कर दुष्ट पापी ने सुधरे हुए लोगों में पहुंचता था, और उसको बड़ी प्रसन्नता होती थी, जब वह उनको सुधार देता था। इसी तरह उपदेश करते २ वह एक बार डाकुओं के गांओं में जा निकला, दो तीन ही दिन में उस ने अपने उपदेशों से उन के नवयुवक लड़कों को चोरी और डाके से घृणा उत्पन्न करादी। उनके बड़ों को यह बात बहुत नापसन्द आई,उन्होंने कहा,यह हमारे लड़कों को बिगाड़ता है, इसका यहां रहना अच्छा नहीं, पर अब सब नवयुवक इनकी सहायता करेंगे, इसलिये उन्होंने ऐसा किया, कि उन में से बारबलवान डाकुओंने नवयुवकों से चोरी रात के समय सत्यव्रत को जा पकड़ा, और मुश्कें बांध कर अपने आगे लगा लिया, और ब्रह्महत्या न कर के उस को कहीं किसी गुप्त कन्दरा में कैद रखने का निश्चय किया।

* पु=नरक और त्र—बचाने वाला=नरक से बचाने वाला।

अब सत्यव्रत यद्यपि अपने हृदय में सन्तुष्ट था, कि यह विपद् उस पर अपना धर्म पालने में आई है। तौभी यह क्लेश मन को सताता था, कि न जाने इन दुष्टों के हाथ से मेरा क्या होगा। इसी चिन्ता में चलतेर वह सूर्योदय के समय एक पुल के ऊपर पहुंचा। ज्यूंही उस ने उदय होते हुए सूर्य की तर्फ आंख उठाकर देखा, तो उस को किरणों की एक रेखा सूर्य से लेकर अपनी आंखों तक आती दिखलाई दी*। यह देखकर उस का आत्मा विश्वास से भर गया और वह बेबस बोल उठा, 'जब नेत्र का मालिक जड़ होकर भी नेत्र का त्याग नहीं करता है, तो मेरा सर्वज्ञ ईश्वर मेरा कैसे त्याग कर सक्ता है'? इन भाव भरे शब्दों को ज्यूंही उन डाकुओं ने सुना, उन्हों ने सत्यव्रत की तर्फ देखा, तो उस का चेहरा उन को कमल का सा खिला हुआ दिखलाई दिया। हैं कैद में यह आनन्द कैसा? और यह मस्त स्वर से बोलना कैसा? घोर हैरान होगए, विश्वास से भरे हुए इस आत्मा के सम्मुख होकर न जाने उन डाकुओं पर क्या असर पड़ा, कि वह उस के पाओं पर गिर पड़े। क्षमा मांगी और उसकी मुशकें खोल दीं, और हाथ जोड़ कर कहा हे भगवन्! जो कुछ आपने देखा है, वह हमें बतलाएं। उस ने वह सारी बात सुना कर कहा, हे भद्र पुरुषो! मैं तुम्हारा बड़ा कृतज्ञ हूं, तुम्हारी कृपा से आज मुझे ऋषि के इस वचन का अनुभव हुआ है—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।

मैं ब्रह्म का त्याग नहीं करूंगा, ब्रह्म ने मेरा त्याग नहीं किया है।

---

* पाठक गण! आपने देखा होगा, कि उदय के समय सूर्य से लेकर हमारी आंखों तक किरणों की एक रेखा सी बनजाती है।

इन वचनों ने डाकुओं के हृदय पर पूरा असर किया। वह उस के शिष्य होगए, और बड़े आदर मान के साथ उसे फिर उसी गांओं में वापिस लेआए। उन सब के जीवन ऐसे सुधरे, कि उन को देखकर दूसरे भी सुधरते गए, सच है, एक बार परमात्मा पर सच्चा विश्वास होजाए, फिर पापमय जीवन भी दिनों में ही पुण्यमय बन जाता है:-

आपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितोहिसः ९।३०
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

यदि महादुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मुझे भजता है, तो उसे भलाही समझना चाहिये, क्योंकि उसने भला निश्चय किया है ॥३०॥ वह जल्दी धर्मात्मा बनजाता है, और सदा की शान्ति को प्राप्त होता है, हे अर्जुन! विश्वास रख, मेरा भक्त नाश नहीं होता है।

ईश्वर एक है :-

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ १८ ॥
स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणिति यच्चन ॥ १९ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव २०
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ २१ ॥
(अथर्व १३।३)

वह न दूसरा है, न तीसरा है, नही चौथा कहलाता है १६। न पांचवां है, न छठा है,न ही सातवां कहलाता है। १७। न आठवां है,न नवां है, न ही दसवां कहलाता है। १८। वह उस सब पर दृष्टि रखता है, जो सांस लेता है, और जो नहीं लेता है। १९। उस में प्रभुशक्ति भरपूर है, वह एक है, एकतत्त्व है, और एकही है। २०। सारे देवता इस में एकतत्त्व होते हैं २१.

ईश्वर की एकता इस से बढ़कर और क्या कही जासकी है। ईश्वर एक है, दूसरा नहीं है, इतना कहना पर्याप्त था,फिर इस निषेध का दस तक विस्तार क्यों किया? अभिप्राय यह है, कि एक से लेकर दस तक संख्या स्वतन्त्र हैं, शेष संख्या इन्हीं के मेल से बनती हैं। जब दस तक निषेध कर दिया, तो एक के सिवाय जो कोई भी संख्या है, उस सब का निषेध आगया। अर्थात् एक के सिवाय और कोई भी संख्या उस के लिये नहीं कही जासक्ती है। केवल यह कि वह एक है। अतएव सारी संख्याओं का निषेध करके एकता पर फिर भी जोर दिया है, 'कि वह एक है, एक ही है'।

एकता के साथ उस के एक तत्त्व होने का भी निर्णय कर दिया है, कि वह एकही चेतनतत्त्व है,एकही विज्ञानघन है,उस में किसी दूसरे तत्त्व का मेल नहीं।

यह जो इन्द्र वरुण आदि अलग २ देवता कहे जाते हैं, वह भी वही है, वही तत्त्व है:—

तद्य यदिदमाहुरमुंयजामुंयजेत्येकैकं देवमे तस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः (बृह० ४।४।६)

जो यह कहते हैं कि उसको पूजो उसको पूजो, इस प्रकार एक २ देव को (पूजने के लिये कहते हैं) यह इसी का साथ

फैलाव है। यह ही सारे देव हैं।

"हिन्दुमत कई ईश्वरों को मानता है" यह मत नितान्त भ्रम मूलक है। वेद में एक ही ईश्वर की महिमा अनेक प्रकार से गाई है, न कि ईश्वर अनेक कहे हैं 'स एष एक एकवृदेक एव'।

पुराणों में जो अनेक देवता माने गये हैं, उनको परमेश्वर नहीं माना है, वह भी दूसरी सृष्टि की तरह परमेश्वर रचित सृष्टि है। यद्यपि देवताओं का दर्जा मनुष्य से बहुत ऊंचा है, पर वह भी परमेश्वर के वैसे ही अधीन हैं, जैसे मनुष्य, मनुष्य पशुओं से ऊंचे होकर भी परमात्मा की सृष्टि है, इसीतरह देवता मनुष्यों से ऊंचे होकर भी परमात्मा की सृष्टि है। यही पुराणों का मत है। इससे परमात्मा की महिमा में तनिक भी अन्तर नहीं आता, बल्कि और भी बढ़ती है, क्योंकि जब वह कहते हैं कि मनुष्य से ऊंची भी कोई सृष्टि है, जिसको परमात्मा ने रचा है। और वह भी परमात्मा के भक्त हैं। परमात्मा उनका भी मालिक है, स्रष्टा है और संहर्ता है। तब क्या हुआ जो तेतीस कोटि देवता मानलिये, पर ईश्वर के विषय में वही वेद का एकतावाद सर्वत्र गूंज रहा है। इस लिये यह कहना भूल है, कि हिन्दु मत में अनेक ईश्वर माने हैं॥

उपनिषद् तो महत्त्व के साथ इस का वर्णन करते हैं:-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च (श्वेता० ६। ११)

यह देव एक है, सारे भूतों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी है, सब भूतों का अन्तरात्मा है। कर्मों का अधिष्ठाता है, सब भूतों का आधार है, साक्षी है, चेतन है, केवल (शुद्ध, एक तत्त्व) है, और निर्गुण है।

ओ३म्।

गीता हमें क्या सिखलाती है ?

१–गीता समस्त विद्वानों का बड़ा आदरणीय पुस्तक है। यह पुस्तक सारे का सारा ही बड़े उच्च भावों से भरा हुआ है, तथापि इसकी विशेष शिक्षाओं की ओर विशेष ध्यान देना योग्य है, इसलिये हम यहां उनकी विवेचना करते हैं।

२–गीता की पहली शिक्षा यह है, कि अपने स्वरूप को पहचानो। 'मैं क्या हूं' यह जाने बिना मनुष्य का शोक मोह दूर नहीं होसक्ता। जब अपने स्वरूप की पहचान होजाती है, तो मनुष्य हर्ष शोक मान अपमान निन्दा स्तुति इत्यादि द्वन्द्वों की पहुंच से ऊपर हो जाता है। इस स्वरूप को आत्मा कहते हैं।

३–आत्मा इस देह में है, पर देह नहीं, देही है, अर्थात् देह से अलग देह का मालिक है। अतएव देह के विनाश से उसका विनाश नहीं होता, देह के विकार (तबदीली) से उसमें विकार नहीं होता, और देह की उत्पत्ति से उसकी उत्पत्ति भी नहीं हुई है। उसने इस देह को ठीक इसी तरह पहना है, जैसे देह अपने ऊपर वस्त्र पहन लेता है। सो जैसे वस्त्र के फटने से देह का कुछ नहीं फटता, इसी तरह देह के कटने से आत्मा का कुछ नहीं कटता, उसको कोई काट सक्ता ही नहीं। देह को काट डालो, आत्मा इसको फटे हुए कपड़े की तरह परे फेंककर नया देह जा धारण करेगा।

४–देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्ति र्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ २।१३

न जायतेम्रियते वा कदाचिन्नायंभूत्वाभविता वा नभूयः।
अजोनित्यःशाश्वतोऽयंपुराणोनहन्यतेहन्यमानेशरीरे२०
वासांसिजीर्णानियथाविहायनवानिगृह्णातिनरोऽपराणि।
तथाशरीराणिविहायजीर्णान्यन्यानिसंयातिनवानिदेही

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३
अच्छेद्योऽय मदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽय मुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितु मर्हसि॥ २५

जैसे इस देह में देही का बचपन जवानी और बुढ़ापा होता है, ठीक इसी तरह दूसरे देह की प्राप्ति है, अतएव धीर पुरुष इसमें मोहा नहीं जाता। १३। यह (आत्मा) न कभी उत्पन्न होता है, न मरता है, और न यह, कि अब होकर फिर नहीं होगा, यह अजन्मा, नित्य, सदा रहने वाला और पुराना है, शरीर के मारा जाने पर यह नहीं मारा जाता है। २०। (किन्तु) जैसे मनुष्य फटे पुराने वस्त्रों को छोड़कर और नये ग्रहण कर लेता है, वैसे यह देही जीर्ण शरीरों को छोड़कर और नयों को प्राप्त होता है। २२। शस्त्र इसको काटते नहीं, अग्नि इसको जलाती नहीं, जल इसको भिगोते नहीं, वायु इसको सुखाता नहीं। २३। इसको काटना, जलाना, भिगोना, सुखाना, असम्भव है, यह नित्य, सर्वगत (सब में प्रविष्ट) स्थिर अचल और सनातन है। २४। यह अव्यक्त (इन्द्रियों का अविषय) यह अचिन्त्य (मन

की सोच से भी परे) और अविकार्य (जिसमें कोई तबदीली नहीं होसकती) कहा जाता है। इसलिये इसको ऐसा जानकर (हे अर्जुन) तुझे शोक करना योग्य नहीं है। २५।

५–ऊपर जो कुछ कहा गया है, यह सब कुछ कह सुनकर भी "आत्मा यह है" ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता है :–

आश्चर्यवत्पश्यतिकश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदतितथैवचान्यः
आश्चर्यवच्चैनमन्यःशृणोतिश्रुत्वाप्येनंवेदनचैवकश्चित्

आश्चर्यवत् कोई इसको देखता है, और आश्चर्यवत् कोई इसको बतलाता है, आश्चर्यवत् कोई इसको सुनता है और सुनकर भी इसको कोई नहीं जानता है (२।२९)

६–"आत्मा यह है" ऐसा अनुभव उसको होता है, जो आत्मा के उक्त स्वरूप को शास्त्र से निश्चय करके उस पर विश्वास रखता हुआ, शास्त्र के अनुसार अपने जीवन को ढालता है। यही उसका अनुष्ठान है, यही यत्न है, इस आत्मा की पहचान है।

७–शास्त्र के अनुसार जीवन का ढालना यह है, कि उसके कर्म उपासना और ज्ञान में शास्त्र का रंग चढ़ा हुआ हो, जैसाकि–

८–हरएक मनुष्य कर्म करता है। पर वह शास्त्रविरुद्ध और शास्त्रसम्मत दोनों तरह के कर्म कर सकता है। उसका पहला काम यह है, कि शास्त्र-विरुद्ध कर्म को सर्वथा त्यागदे। शास्त्र के विरुद्ध कोई काम न करे, कुछ मुख से न बोले, कुछ मन में न लाए। सोलहवें अध्याय में आसुरी प्रकृति वालों के जैसे कर्म धर्म बतलाए हैं, वह सर्वथा त्याज्य हैं। सत्तरहवें और अठारहवें अध्याय में जिस २ वस्तु के विषय में सात्विक राजस और तामस तीन २ भेद किये हैं, उनमें से तामस सर्वथा त्याज्य हैं, राजस भी त्याज्य ही हैं।

९—शास्त्र सम्मत कर्म अपने २ वर्णोचित कर्म हैं। वर्ण मनुष्य की प्रकृति से जाना जाता है। एक सरल और शान्त प्रकृति का पुरुष ब्राह्मण वर्ण का है, उसके लिये वह कर्त्तव्य है, जो उसकी प्रकृति के लिये उचित है, और वह ब्राह्मण का कर्म है। इसीतरह शूरवीरता की प्रकृति वाले, वाणिज व्योपार की प्रकृति वाले, और सेवा की प्रकृतिवाले पुरुष के लिये क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के उचित कर्म कर्त्तव्य हैं।

१०—शान्ति भी गुण है, और लड़ाई भी गुण है, खेती भी गुण है और सेवा भी गुण है। जो जिसके योग्य है, वह उसको अपना कर्तव्य जानकर पूरा करे, उसी से उसको सिद्धि मिलती है। ब्राह्मण यदि अपने धर्म का पालन नहीं करता, तो वह सिद्धि नहीं पासक्ता, और शूद्र अपने धर्म का पालन करता है, तो वह सिद्धि पाजाता है। दोनों पालन करते हैं, तो दोनों एक जैसी सिद्धि पाजाते हैं। प्रभु ने जिसको जैसी प्रकृति दी है, उस प्रकृति के अनुसारी जो जिसका कर्त्तव्य है, वह उस प्रभु का दिया उसे अधिकार है, उसको निबाहने से वह अपने प्रभु की पूजा करता है, और इसीलिये वह उसकी कृपा का पात्र बनकर सिद्धि पाजाता है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतःसिद्धिं यथाविन्दतितच्छृणु । १८।४५
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः । ४६

अपने २ कर्तव्य में लगा हुआ नर सिद्धि को पालेता है, अपने कर्त्तव्य में रत हुआ(हे अर्जुन)जिस तरह सिद्धि पाता है,वह सुन॥ ४५। जिससे जीवों की प्रवृत्ति (निकास) है, जिसने यह सब

फैलाया है, उसको अपने कर्तव्य से पूजकर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है।

११—वर्णोचित दूसरे कर्तव्य के साथ वैदिक यज्ञ,जिनसे कि मनुष्य का कल्याण अभिप्रेत है वह भी पुरुष के लिये अवश्य अनुष्ठेय हैं :—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ ३।१३

जो यज्ञ का बचा हुआ अन्न खाते हैं, वह सारे पापों से छूट जाते हैं, पर वह पापी निरा पाप खाते हैं, जो अपने ही निमित्त पकाते हैं।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ ३।१४
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६

[illegible] प्राणधारी अन्न से उत्पन्न होते हैं,अन्न मेघ से उत्पन्न होता है, मेघ यज्ञ से उत्पन्न होता है, यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।१४। कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जान,वेद अविनाशी(परमात्मा)से उत्पन्न हुआ है, इसलिये सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञ में सदा स्थित है (अर्थात् यज्ञ करने वाले पर अपना स्वरूप प्रकाश करता है)।१५। हे अर्जुन! इसप्रकार के चलाये हुए चक्र को जो(पुरुष)अनुसरण नहीं

करता है, उसकी आयु पाप की है, वह निरा इन्द्रियों में आनन्द मनाता है, वह व्यर्थ जीता है। ३।१६।

१२—कर्म करें, पर उसके साथ हृदय में यह उदार भाव हो, कि कर्म को अपना कर्त्तव्य जानकर पूरा करें,न कि उसके फल के लालच से। हमारा अधिकार अपने कर्त्तव्य को पूरा करते हुए आगे बढ़े चले जाना है। शास्त्रों में जो फल बतलाये हैं,वह सच्चे हैं, पर यह प्रेरणा उनके लिये है, जो उनके अभिलाषी हैं, तुम अपने कर्त्तव्य पर दृष्टि रक्खो, तुमको इसलिये उस कर्त्तव्य का पालन करना है, कि तुमको उस पर लगाया गया है, बस तुम फल को अपना लक्ष्य मत बनाओ, कर्त्तव्य को अपना लक्ष्य बनाओ, और आगे बढ़ो—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ २।४७

तेरा अधिकार कर्म में ही है, फलों में कभी नहीं, मत कर्मों का फल तेरा प्रेरक हो, और मत तेरा लगाव अकर्म में हो।

१३—इस तरह जब फल की परवाह न करके केवल कर्त्तव्य पर दृष्टि रखकर कर्त्तव्य पूरा किया जाता है, तो उसमें यह बड़ा भारी लाभ होता है, कि कार्य की सिद्धि असिद्धि में मन की अवस्था एक सी रहती है,मन में हर्ष वा शोक की लहरें नहीं उठतीं। प्रशान्त सागर की तरह एक रस गम्भीर बना रहता है। मन की ऐसी अवस्था का नाम ही योग है, जो ऐसे सहज ही प्राप्त होजाता है, अतएव कहा है :—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वंयोगउच्यते॥२।४८

हे अर्जुन योग में स्थित हुआ संग (फल में लगाव) को त्यागकर, सिद्धि असिद्धि में सम (हर्ष विषाद से रहित) होकर, कर्मों को कर, समता योग * कहलाती है।

१४—जब तुच्छ फल को मन से त्याग दिया, तो फिर क्या कर्म खाली चला जायगा ? नहीं, ऐसा नहीं होसका, उसका फल बहुत बड़ा मिलेगा—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ॥
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्। २।५१

बुद्धि से युक्त विवेकी पुरुष कर्म से उत्पन्न होने वाले फल को त्याग करके जन्म के बन्ध से निर्मुक्त (आज़ाद) हुए उस स्थान को प्राप्त होते हैं, जहां कोई दुःख उपद्रव नहीं है।

१५—"कर्म बन्धनका हेतु है, इसलिये प्रवृत्ति मार्ग को त्याग कर निवृत्ति मार्ग पर चलना चाहिये" इसके यथार्थ अभिप्राय को न जानकर जो दिखलावे का वैराग्य लोगों में उस समय बढ़ने लगा था, (जैसा कि आजकल है), गीता इसका विरोध करती है—

न कर्मणा मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति । ३।४

पुरुष कर्मों के आरम्भ न करने से निष्कर्म भाव (ज्ञाननिष्ठा) को नहीं प्राप्त होता है, और न ही निरे त्याग से सिद्धि को प्राप्त होता है।

क्योंकि कर्म के बिना कभी कोई रह सका ही नहीं, इसलिये :—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

* चित्त का विक्षिप्त न होना ही योग है, जब चित्त सिद्धि असिद्धि में सम है, तो विक्षेप कैसा ?

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते । ३। ६
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोग मसक्तः स विशिष्यते ॥७

जो (बाहर से) कर्मेन्द्रियों को रोककर (अन्दर) मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता हुआ बैठता है, वह विमूढात्मा मिथ्याचारी (दम्भी, मक्कार) कहलाता है । ६ । पर जो हे अर्जुन ! मन से इन्द्रियों को रोककर, लगाव न रखकर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग को आरम्भ करता है, वह विशेष है । ७ ।

१६–हाँ जो सचमुच आत्मा में मस्त है, उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं :–

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ ३ । १७

जो आत्मा में ही रतिवाला है, आत्मा में ही तृप्त है, आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसको कुछ करने योग्य नहीं है ।

१७–यद्यपि उसको कुछ अपने अर्थ के लिये करने योग्य नहीं है, तथापि लोक की भलाई लक्ष्य में रखकर उसको भी शुभ कर्म त्यागकर नहीं रहना चाहिये, क्योंकि :–

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३ । २१

माननीय पुरुष जो २ आचरण करता है, वही दूसरे लोग भी करते हैं, वह जो बात प्रमाण करता है, दुनिया उस पर चलती है ।

इस बात को श्रीकृष्णजी अपने दृष्टान्त द्वारा ही पूरा स्पष्ट करते हैं :–

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ ३।२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः। २४

— हे अर्जुन ! मेरे लिये तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य नहीं, न ही न पाई हुई कोई वस्तु पाने योग्य है, तथापि कर्म में वर्तता ही हूं । २२ । यदि मैं आलस्य रहित होकर कर्म में न वर्तूं, तब हे अर्जुन! सब आस पास के मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग पर चलें। २३ । यह लोक (कर्त्तव्य के नाश होने से) नाश होजायें, यदि मैं कर्म न करूं, तब मैं ही गड़बड़ करनेवाला और इन प्रजाओं का बिगाड़नेवाला बनूं ॥ २४ ॥

सो कर्म ज्ञानी अज्ञानी दोनों को ही करना चाहिये, भेद केवल यह होना चाहिये कि :—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ ३।२५

अज्ञानी जैसे कर्म में आसक्त होकर करते हैं, ज्ञानी वैसे आसक्त न होकर हे अर्जुन (केवल) लोक की भलाई चाहता हुआ करे ॥

१८—निष्कर्मभाव इसतरह प्राप्त नहीं होता, कि पुरुष कर्म न करे, बल्कि इस तरह, कि करता हुआ उसके असर से अलग

रहे, यही वीरता है, इसी को निष्कर्मभाव वा अकर्म कहते हैं, वस्तुतः लोग कर्म अकर्म विकर्म ऐसे शब्द बोलते हैं, पर उसके तत्त्व को नहीं जानते हैं :—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।१६
कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७

"क्या कर्म है ? क्या अकर्म है" पण्डित भी इस विषय में मोहित हैं। सो मैं तुझे वह कर्म बतलाऊंगा, जिसको जानकर तू अशुभ (बुराई) से छूटेगा । १६ । कर्म का भी तत्त्व जानने योग्य है, विकर्म का भी जानने योग्य है, अकर्म का भी जानने योग्य है, कर्म की गति बड़ी गहरी है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखे, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह सारे कर्म करता हुआ भी सावधान है।

कर्म न करना अकर्म नहीं, किन्तु स्वार्थ की वासना को त्यागकर स्वभावतः वा परार्थ कर्म करके उसके असर से बचे रहना अकर्म है, ऐसा कर्म बन्धक न होने से अकर्म है, और समर्थ होकर निकम्मे पड़े रहना, अपनी वा लोक की भलाई में चेष्टा न करना यह अकर्म भी बन्धन का हेतु होने से कर्म है। इसीतरह समर्थ होकर आर्त्त की रक्षा न करना, और अन्धे के मार्ग में कुआँ

देखकर चुप बैठे रहना अकर्म भी विकर्म है। विद्वान काम करना और बन्धन में न पड़ना ही अकर्म या निष्कर्मभाव है।

यदृच्छालाभ सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते॥ ४। २२

जो कुछ मिला है उस से सन्तुष्ट (सरदी गरमी मान अपमान आदि) द्वन्द्वों से परे, डाह (हसद) से रहित, और सिद्धि असिद्धि में जो सम है, वह (कर्म) करके भी बन्धन को नहीं प्राप्त होता है।

(१९)—कर्म तो मनुष्य से प्रकृति करवाती है, उसमें सावधान इस अंश में होना चाहिये, कि राग द्वेष के वश में न आए :—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति। ३। ३३
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४।

अपनी प्रकृति के सदृश ज्ञानवान् भी चेष्टा करता है, सब प्राणी प्रकृति के पीछे चलते हैं, निग्रह (रोक थाम) क्या कर सकती है। ३३।

हां हरएक इन्द्रिय के विषय में राग द्वेष रहते हैं, उनके वश में न आवे, क्योंकि वह इसके मार्ग में विघ्न हैं। ३४।

(२०)—जो राग द्वेष के वश में नहीं है, उसकी स्वभावतः प्रवृत्ति के प्रेरक स्थूल दृष्टि से प्रकृति और सत्य दृष्टि से परमात्मा होते हैं, उन्हीं के विषय में कहा है :—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।५
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

सावधान तत्त्ववेत्ता जब देखता, सुनता, छूता, सूंघता, बोलता (मल मूत्र वीर्य) त्यागता, (किसी वस्तु को) ग्रहण करता, (आंखों को) खोलता वा मून्दता है, तो वह समझे, कि मैं कुछ नहीं करता हूं, किन्तु इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों में वर्तती हैं, ऐसी धारणा रक्खे। ९।

ऐसी धारणा उसी पुरुष की होसकती है, जिसमें कोई राग द्वेष नहीं है, जब उसके प्रर्वतक राग द्वेष नहीं होते, तब उसके प्रेरक परमात्मा होते हैं, क्योंकि वह उसको अधिक प्यार करते हैं, जैसा कि कहा है " पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति " अलग आत्मा को और उसके प्रेरनेवाले को जानकर, उस (प्रेरनेवाले) से प्यार किया हुआ वह अमृतत्त्व को प्राप्त होता है (श्वेता०१।६) " यही प्रार्थना " धियो योनः प्रचोदयात् " परमात्मा हमारी बुद्धियों को प्रेरे" से की गई है। परमात्मा ने इन्द्रिय निष्प्रयोजन नहीं बनाए, उनको मार देना परमात्मा को अभिप्रेत नहीं। हां परमात्मा के अभिप्राय के विरुद्ध उनसे पाप कर्म भी होता है, पर वह पाप सदा राग द्वेष के अधीन प्रवृत्ति होने से ही होता है। सो जब इन्द्रिय रागद्वेष से वियुक्त होते हैं, तो उनकी प्रवृत्ति परमात्मा के अभिप्राय के अनुकूल होती है। इस प्रवृत्ति में ही उसकी ऐसी धारणा होसक्ती है, कि मैं कुछ नहीं करता, जो इसके बिना ऐसा कहता है, वह मक्कार है। यह सच्ची धारणा उत्पन्न करके ही साधक को समझना चाहिये,

कि मैं कुछ नहीं करता हूं, इससे पूरे नहीं। क्योंकि जब जो कुछ उससे परमात्मा करवाते हैं, वही कुछ उससे होता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा। ५।१०

जो कर्मों को परमात्मा पर डालकर (परमात्मा की ही प्रेरणा में प्रवृत्त होता हुआ और परमात्मा के ही अर्पण करता हुआ) अपना संग त्यागकर करता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता, * जैसे पद्म का पत्ता पानी से।

२१—कर्म करने में फल की कामना और कर्तृत्व का अभिमान त्यागदे। पर चित्त की भावना ब्रह्म में धरी रहे, सर्वव्यापक ब्रह्म के प्रेम में इसतरह मग्न होकर कर्म करे, कि सर्वत्र उसे उसकी झलक प्रतीत हो, तब यह कर्म ब्रह्मसमाधि का हेतु बन जाएगा।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ ४। २४॥

अर्पण (जिससे आहुति दी जाती है अर्थात् स्रुवा आदि) ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म अग्नि में ब्रह्म (होता) से होम किया गया है, इसप्रकार ब्रह्म कर्म में समाधि लग जाने से (अर्थात् अपने कर्म में ब्रह्म के स्वरूप पर चित्त के टिक जाने से)वह ब्रह्म को ही प्राप्त होगा॥ अभिप्राय यह है कि इन सारी चलायमान वस्तुओं के पीछे अचल परमात्मा विद्यमान है, तुम्हारी दृष्टि कर्म करते समय उस पर होनी चाहिये। जब तुम हाथ से अग्नि में आहुति डालो, तो

* न पाप से लिप्त होता है, न दुःख से। क्योंकि उसके कर्म पाप पुण्य की [illegible] से ऊपर होजाते हैं।

तुम्हारा मन उस परम ज्योति में मग्न हो, जिससे यह अग्नि देदीप्यमान है, इसप्रकार तुम्हारा किया हुआ हवन केवल भौतिक अग्नि में नहीं, किन्तु ब्रह्म अग्नि अर्थात् वह अग्नि जिसकी पीठ पर ब्रह्म है, उसमें होगा, इसीप्रकार स्रुवा आदि में ब्रह्मदृष्टि से अभिप्राय है। सो जब तुम इसप्रकार अपने कर्म को ब्रह्ममय बना दोगे, तो उसका फल ब्रह्मप्राप्ति ही होगा, न कि संसार, क्योंकि तुम्हारे चित्त की एकाग्रता ब्रह्म में है, न कि नाम रूप में।

२२–इस भावना के साथ जब कर्मयोग पूरा किया जाता है, तो कर्मयोग और भक्तियोग दोनों इकट्ठे होजाते हैं। पर भक्ति कर्म के सम्बन्ध से स्वतन्त्र भी है।

२३–ईश्वर का भक्त वह है, जो ईश्वर से सदा प्रेम रखता है, जो ईश्वर की शरण लेता है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ ७।१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्ति र्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं सच मम प्रियः ॥ १७
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८

हे भरतों में श्रेष्ठ! चार प्रकार के जन मेरा भजन करते हैं, (१) दुखिया (रोग में वा विपद् में ग्रस्त) (२) जिज्ञासु (जो मेरा दर्शन चाहता है) (३) किसी अर्थ से अर्थी (लोड़वन्त) और (४) ज्ञानी (जिसने मुझे पहचान लिया है)।१६। उनके मध्य में से ज्ञानी बढ़कर है, क्योंकि वह सदा (मुझ में) (जुड़ा हुआ है), दूसरों का चित्त

अपने अर्थ की ओर भी दौड़ता है) और एक (मुझ) में ही अनुराग वाला है, (दूसरों का अनुराग अपने अभीष्ट अर्थ में भी है) मैं ज्ञानी का अतीव प्यारा हूं और वह मुझे प्यारा है । १७। यह सब ही उदार (महान्) हैं, पर ज्ञानी मेरा आत्मा (अपना आप) ही है, यह मेरा मत है, क्योंकि वह (मुझ में ही) जुड़े हुए आत्मावाला मुझको ही सब से उत्तमगति (मानता हुआ मेरा आश्रय लिये है न कि मुझसे कुछ और चाहता है)।

२४–भक्ति से भरे हुए हृदयवाले जन लोक में कैसे रहते हैं ?

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ताउपासते ॥ ९।१४

सदा मेरा कीर्तन करते हुए, लगे हुए, दृढ़व्रतों वाले भक्ति से मुझे नमस्कार करते हुए सदा एक चित्त हुए मुझे उपासते हैं।

२५–जो सब कुछ भूलकर अनन्य भक्ति से भगवान् की शरण पकड़ते हैं, उन अपने प्यारों का सब कुछ भगवान् आप साधते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ९।२२

(प्रेम के वश मुझ से) अभिन्न हुए मेरा चिन्तन करते हुए जो जन मुझे उपासते हैं, उन सदा (मुझमें) जुड़े हुए भक्तों का योगक्षेम (पहुंचाना और बचाना) मैं उठाता हूं।

२६–जब तुम अन्दर प्रेम रखते हो, तो तुम जो कुछ भगवान् की भेंट धरोगे, सब स्वीकार होगा। भगवान् की भेंट यह सब कुछ है। जो तुम खाते पीते हो, यदि भगवान् के अर्पण करके खाओ पियो। और

भगवान् की भेंट वह सभी तुम्हारे काम हैं, जो तुम किया करते हो, यदि भगवान् के अर्पण करके करो, इसप्रकार अपनी कमाई का भगवान् के चरणों में लाभ तुम्हें भगवान् से इसतरह मिला देगा, कि तुम परमात्मा में वास करोगे, और परमात्मा तुम्हारे अन्दर वास करेंगे :-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ९ । २६
यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥२९॥

जो पुरुष पत्र पुष्प फल या जल मुझे भक्ति से देता है, उस शुद्ध(निष्कपट) हृदय वाले का भक्ति से भेंट किया हुआ वह मैं खाता हूं (स्वीकार करता हूं)॥२६॥जो हे अर्जुन! तू जो करता है, जो खाता है,जो होमता है,जो देता है,और जो तप करता है,उसको मेरे अर्पण कर ॥ २७ ॥ इस प्रकार तू शुभ अशुभ फलवाले कर्मबन्धनों से छूटजायगा, ऐसे संन्यासयोग (त्यागयोग) से युक्त आत्मावाला (बन्धनों से) छूटा हुआ तू मुझे प्राप्त होगा ॥ २८ ॥ मैं सब भूतों में सम हूं (विषम नहीं), न मेरा कोई (स्वभावतः) द्वेष्य है, न ईश्वरा, किन्तु जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वह

मुझमें हैं, और मैं उनमें हूं।

२७–भगवान् की भक्ति की ओर झुकना ही सारे कल्याणों का मूल है :–

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ९।३०
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। ३१।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्। ३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।३३
मन्मना भव मद्भक्तो मद्‍याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत्परायणः ।३४

यदि महादुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मुझे भजता है, तो उसे भलाही समझना चाहिये, क्योंकि उसने अच्छा निश्चय किया है। ३०। वह जल्दी ही धर्मात्मा बन जाता है, और सदा की शान्ति को प्राप्त होता है, हे अर्जुन! निश्चयवान्, मेरा भक्त कभी नाश नहीं होता है।३१। मेरा सहारा पकड़कर हे अर्जुन! जो पाप योनि (चाण्डालादि) भी हैं, तथा स्त्रियें वैश्य और शूद्र भी हैं, वह भी निःसन्देह परमगति को प्राप्त होते हैं। ३२। क्या फिर पवित्र ब्राह्मण और भक्तिवाले राजऋषि, सो तू हे अर्जुन! इस

अनित्य, सुख रहित, लोक में आकर मेरा भजन कर। ३३। मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर, इस तरह आत्मा को मुझ में जोड़कर मेरे परायण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा। ३४।

२८—भगवान् किसको प्यार करते हैं, हम कैसे बनें, जिससे कि भगवान् के प्यारे बन जाएं, आओ सुनो, इस रहस्य को गीता इस तरह खोलती है :-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःख सुखः क्षमी ॥ १२।१३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः । १४

वह, जो किसी भी (अपने साथ द्वेष करने वाले भी) प्राणी के साथ द्वेष नहीं रखता, (सब प्राणधारियों का) हितैषी है, (सब भूतों पर) दयापरायण है। ममता और अहङ्कार से रहित है (मेरा पन और मैंपन को त्यागे हुए है), जिसने सुख दुःख सम करके माना हुआ है, जो क्षमावाला है (अपने विषय में किसी से कीहुई निन्दा या अपराध को भुला देता है)। १३। सदा सन्तुष्ट है परमात्मा से मिला हुआ है, अपने आपको वश में किये हुए है, जिसका निश्चय कभी डोलता नहीं है, जिसने मन और बुद्धि मुझमें अर्पण करदी है, जो ऐसा मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है। १४।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः । १५

जिससे दुनिया को कोई डर नहीं, और जिसको दुनिया से कोई डर नहीं, जो हर्ष क्रोध भय और उद्वेग से (जोश) बचा हुआ है वह मेरा प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।१६

जो बेपरवाह है, पवित्र (ईमानदार) है, होश्यार है, पक्षपात से रहित है, (मनकी) व्यथा से रहित है, सारी प्रवृत्तियों का त्यागी है, ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।१७

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न चाह रखता है, शुभ अशुभ दोनों का परित्यागी है ऐसा भक्तिमान् पुरुष मेरा प्यारा है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।१८
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः।१९

जो शत्रु और मित्र में सम (एकरस) है, तथा मान

---

१ प्रिय वस्तु को पाकर हर्ष और अप्रिय को पाकर द्वेष नहीं करता है, अभीष्ट वस्तु के नाश में शोक नहीं करता है, अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं करता है, और जिसके कर्म पुण्य पापकी हद के ऊपर है।

अपमान में सम (हर्ष विषाद से रहित) है, सरदी गरमी सुख दुःख में सम है, संग (लगाव) से रहित है। १८। जिसको निन्दा स्तुति बराबर है, चुप (मस्त) है, निवत घर के बिना है, स्थिर बुद्धि वाला है, ऐसा भक्तिमान पुरुष मेरा प्यारा है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः। १९

हां जो श्रद्धा से भरे हुए मेरे परायण हुए इस कहे हुए धर्म युक्त अमृत का सेवन करते हैं, वह मेरे अतीव प्यारे हैं।

२९–भक्तों का परमात्मा से अद्वितीय प्रेम होता है, और परमात्मा की उन पर अद्वितीय दया होती है :–

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥१०। ८
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च। ९
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०
तेषामेवानुकम्पार्थं अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।११

मैं सब का उत्पन्न करनेवाला हूं, मुझसे सब प्रवृत्त होता है। ऐसा जानते हुए विवेकीजन प्रेम से भरे हुए मुझे भजते हैं। ८। मुझमें चित्तवाले (जिनका चित्त मेरे स्वरूप, नाम गुण और कर्मों की मधुरता में ही लुब्ध है), मुझमें ही प्राप्त हुए प्राणोंवाले



(जैसे मछली जल के बिना, इसतरह मेरे बिना आत्मा के धारने में असमर्थ), (अलग २ अनुभव किये हुए मेरे कल्याण गुणों को) परस्पर सिखलाते हुए, और मुझे ही कथन करते हुए (मेरे ही स्वरूप ज्ञान बल नाम और कल्याण गुणों का कथन करते हुए) सदा तृप्त होते हैं और आनन्द मनाते हैं। ९। उन्हीं के अनुग्रह के लिये उनके आत्मा के अन्दर रहता हुआ मैं चमकते हुए ज्ञान के दीपक से उनके अज्ञान के अन्धेरे को नाश करता हूं।

(३०)भक्तियोग के साथ ध्यानयोग का जानना भी आवश्यक है, जिससे कि पुरुष आत्मा और परमात्मा को साक्षात् कर लेता है, और परम आनन्द को अनुभव करता है।

(३१)योग करनेके लिये स्थान एकान्त और शुद्ध होना चाहिये, उस पर नर्म आसन-जो न बहुत ऊंचा न बहुत नीचा हो-बिछाकर उस पर बैठे, छाती गर्दन और सिर को सीधा रक्खे, दृष्टि नासिका के अग्र पर रक्खे, चित्त को सब ओर से रोककर केवल आत्मा में स्थिर करे:-

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥६।२०
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३

जिस काल में योग के सेवन से रुका हुआ चित्त ठहर जाता है, और जिस काल में आत्मा से आत्मा को देखता हुआ आत्मा में ही (न कि बाहर विषयों में) सन्तुष्ट होता है। २०। और जिसमें उस अत्यन्त सुख को अनुभव करता है, जो इन्द्रियों से परे केवल बुद्धि से ग्राह्य है। और जिसमें स्थिर होकर फिर तत्त्व से कभी नहीं डोलता है। २१। और जिसको पाकर उससे अधिक दूसरा लाभ नहीं मानता है, और जिसमें स्थिर हुआ किसी भारी दुःख से भी नहीं हिलाया जाता है। २२। उस दुःख के सम्बन्ध के छूट जाने का नाम योग है, चाहिये, कि निश्चय से अनथक होकर इस योग में लगे। २३।

(१२) दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति इन दो ही अर्थों के लिये मनुष्य हरएक काम करता है, जब कोई दुःख पूरी तरह दूर नहीं होसकता, तो फिर भी मनुष्य ऐसे उपाय करता है, कि सदा के लिये न सही, कुछ दिनों के लिये ही दूर होजाय, और पूरा दूर न भी होसके, तो भी कुछ घट ही जाय, इसी तरह सुख भी छोटे २ उसके सामने रहते हैं, और उन्हीं के लिये यत्न करता है। पर योग एक ऐसा साधन है, कि जिस से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होजाती है, जो पूर्व कही है। और साथ ही अत्यन्त सुख की प्राप्ति भी होती है, क्योंकि उसकी दिव्यदृष्टि सर्वदा सर्वत्र परमानन्द स्वरूप परमात्मा के साक्षात् दर्शन करती है :—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ ६ । २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगत-कल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३०
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदिवा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२

रजोगुण को दबाए हुए, शान्तमन वाले, पाप से रहित हुए, ब्रह्मस्वरूप हुए, उस योगी को अनन्त सुख प्राप्त होता है ।२७। दूर हुए पापोंवाला योगी इसप्रकार लगातार आत्मा को जोड़ता हुआ आसानी से ब्रह्म में होनेवाले अत्यन्त सुख को भोगता है ।२८। योग से युक्त आत्मा सर्वत्र उसी को देखता हुआ सब भूतों में स्थित आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में देखता है । २९ । वह जो मुझे सब में देखता है, और सब को मुझ में देखता है, वह मुझे नहीं भुलाता है और मैं उसे नहीं भुलाता हूं । ३० । एकता का आश्रय लेकर मुझे सब भूतों में स्थित जानता हुआ जो मेरी भक्ति करता है, वह हरएक तरह से वर्तता हुआ* भी मुझ में वर्त्तता है । ३१ । हां वह जो अपनी उपमा से सुख या दुःख को

* खाता, पीता, बैठता, उठता, चलता फिरता ।

सर्वत्र सम देखता है, वह पूरा योगी माना गया है।

(३३)योग में चञ्चल मन को ठहराने का उपाय श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही बतलाया है, कि जब मन दौड़ने लगे, तो उसको दूसरी तर्फ से रोक २ कर ठहराते रहो,और जिन विषयों की ओर दौड़ता है, उनकी क्षुद्रता असारता चिन्तन करते रहो, इससे चित्त उधर से हटकर आत्मा में स्थिर होगा।

(३४)यह याद रक्खो,कि योग में लगा हुआ पुरुष परमात्मा को साक्षात् करने से पहले भी यदि देह त्यागता है,तो योगियों के घर में आकर जन्म लेता है, और पिछले संस्कारों से जल्दी योग में प्रवृत्त होकर जल्दी सिद्धि पालेता है।

(३५) पर जो तीव्र उत्साह के साथ अपने उद्धार के लिये प्रवृत्त होता है,वह जल्दी अपना उद्धार कर लेता है,सो चाहिये,कि

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ६।५।
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्। ६

स्वयं अपना उद्धार करे, अपने आपको नीचे न गिरावे, क्योंकि आपही अपना बन्धु है और आपही अपना शत्रु है। ५। जो अपना आप बन्धु है, जिसने आत्मा से आत्मा को जीता हुआ है, पर जिसने अपने आपको नहीं जीता, उसका अपना आपही शत्रुता में शत्रु के तौर पर वर्तता है।

(३६) जिसने अपने आपको अपने वश में कर लिया है, वह हरएक दशा में एकरस रहता है,दुनिया के लालचों से ऊपर होजाता

है, और राग द्वेष के असर से ऊपर होजाता है :–

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ६।७
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चनः ॥ ८
सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

जिस ने अपने आप को वश में कर लिया है, और शान्ति से भरपूर है, उसका आत्मा सर्दी गर्मी सुख दुःख तथा मान अपमान में पूरा एकाग्र रहता है। ७। वह योगी जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान और अनुभव विज्ञान) में तृप्त है, जो निर्विकार है, इन्द्रियों को जीते हुए है, जिसको मट्टी का ढेला पत्थर और सोना एक बराबर हैं, वह युक्त (योगारूढ़) कहाजाता है। ८। सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओं में तथा सदाचारी और दुराचारियों में जो समबुद्धि (रागद्वेष से शून्य बुद्धिवाला) है, वह (सारे योगियों में) विशेष है।

(१७) उपासना-काण्ड के पीछे अब ज्ञान-काण्ड का वर्णन करेंगे, जिस में ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान के साधन और ज्ञान का यथार्थ वर्णन होगा।

(१८) ज्ञान का स्वरूप और साधन यह बतलाए हैं:–

अमानित्वमदम्भित्व महिंसा क्षान्ति रार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥१३।७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्य मनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १०
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ११
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्व ज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १२

(अपने आप में) मान से रहित होना, क्षमा करना, सरल होना, आचार्य की सेवा करना (अन्दर बाहर से) पवित्र होना, (रुकावटों की परवाह न करके सन्मार्ग पर) स्थिर रहना, अपने आपको वश में रखना । ८ । इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य होना, अहंकार न होना, जन्म, मरण बुढ़ापे और दुःख में दोषों का बार २ देखना* । ९ । (विषयों में) न फंसना, पुत्र स्त्री और घर आदि में लगाव न होना, इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में चित्त का सदा एकरस रहना । १० । मुझ में अनन्य भावना से न बदलने वाली भक्ति, एकान्त देश का सेवन और मनुष्यों के जमघटे में अप्रीति । ११ । आत्मा के ज्ञान में लगे रहना, तत्त्व ज्ञान के

* जन्म में दीर्घ-गर्भ वासादि, मरना सब को अप्रिय है, वृद्धापे में प्रज्ञा शक्ति तेज घटजाते हैं, रोग दुःख का घर है, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से संसारियों का छुटकारा नहीं है, इत्यादि दोषों का विचारना।

फल (मोक्ष) का चिन्तन, यह ज्ञान कहा गया है, इस से उलटा अज्ञान है * ।

(२०) इन साधनों से जानने योग्य परमात्मा प्रकृति और पुरुष हैं । इन में से परमात्मा जड़ और चेतन सबके अन्तर्यामी और अधिष्ठाता हैं, प्रकृति जड त्रिगुण स्वरूप है, सारे विकार उसी का स्वरूप हैं, बाहर का जगत् भी और अन्दर के इच्छा द्वेष सुख दुःख आदि सब प्रकृति का विकार हैं, पुरुष जीवात्मा एक २ शरीर में अलग २ हैं । इन में से परमात्मा के विषय में यह लिखा है ।

ज्ञेयं यत् तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।१३।१२।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुण-भोक्तृ च ॥ १५
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेवच ।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१६॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

---

* मान रहित होना आदि बीस धर्म ज्ञान कहलाते हैं, क्यों कि यह ज्ञान के साधन हैं । यह सब मिले हुए होने चाहियें, इन में से किसी की भी त्रुटि मनुष्य में नहीं होनी चाहिये ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १७ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः पर मुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१८॥

(इस ज्ञान से) जो जानने योग्य है, वह कहूंगा, जिसको जानकर (मनुष्य) मोक्ष को भोगता है, वह आदिरहित परब्रह्म है, वह न सत् कहा जाता है, न असत् कहा जाता है (वस्तुतः ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप कहने में वाणी गुंग है, सत् असत् कुछ नहीं कह सकी) ॥ १३ ॥ हर एक जगह उस के हाथ पाओं हैं, हर एक जगह उसका नेत्र सिर और मुख है, हर एक जगह उसका कान है, लोक में वह सबको घेर कर स्थित है। (उसकी रक्षा का हाथ हर एक जगह है, उसकी पहुंच सब जगह है, वह सब पर दृष्टि रखता है, और सबकी बात सुनता है, उसका सुन्दरमुख सुन्दर स्वरूप हर एक जगह देखा जासकता है)। १४। सारे इन्द्रियों के गुणों से चमकने वाला और सारे इन्द्रियों से रहित, सङ्गरहित और सबका धारने वाला, गुण रहित और गुणों का भोगने वाला है। १५। बटा हुआ न होकर भी (हर एक हृदय का अलग २ अन्तर्यामी होने से) सब भूतों में बटे हुए की तरह स्थित है, वह सब का पालने वाला संहार करने वाला और उत्पन्न करने वाला है। १७। वह ज्योतियों का भी ज्योति है, अन्धकार से परे कहा जाता है, वह ज्ञानस्वरूप है, जानने योग्य है, ज्ञान से जाना जाता है, सब के हृदय में बैठा है। १८। इसी प्रकार परमात्मा का और भी बहुत सा वर्णन है।

(४०) प्रकृति और पुरुष का वर्णन इसप्रकार किया है:—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्। १३।२०
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। २१।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु। २२।

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को अनादि जान, विकारों (देह इन्द्रियादिकों) और गुणों (सुखदुःख आदिकों) को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान। २०। प्रकृति शरीर और इन्द्रियों की उत्पत्ति में हेतु है, और सुख दुःख के भोगने में हेतु पुरुष है। २१। प्रकृति में स्थित होकर पुरुष प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों (सुख दुःखादि) को भोगता है, और अच्छी बुरी योनियों में इस के [redacted] का कारण गुणों में लगाव है। २२।

(४१) जहां कहीं जीवन पाया जाता है, वह प्रकृति और पुरुष के मेल से हुआ है:—

यावत् संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ। १३।२७।

जहां कहीं जो कोई स्थावर जंगम जीव उत्पन्न होता है, हे अर्जुन! यह जान, कि वह सब प्रकृति और पुरुष के मेल से हुआ है।

(४२) प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध और पुरुष का साक्षात्कार गीता में इस तरह वर्णन किया है:—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति१५।७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युक्तामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।८।
श्रोत्रं चक्षुःस्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।९।
उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।१०।
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।११।

मेरा ही अंश जीवलोक में जीवरूप सनातन है, जो प्रकृति में स्थित पांचों इन्द्रियों को और छठे मन को (भोग भोगने के लिये) खींचता है।७। जब (इस देह का) मालिक जब देह को प्राप्त होता है, और जब निकलता है, तब इस देह से इन इन्द्रियों को ग्रहण करके साथ लेजाता है, जैसे वायु गन्ध को गन्ध वाले (फूलों) से।८। कान, नेत्र, त्वचा, रसना, घ्राण और मन का अधिष्ठाता होकर यह जीव विषयों को भोगता है।९। (इसको देह से) निकलते हुए वा (देह में) स्थित हुए वा गुणों से युक्त होकर विषयों को भोगते हुए को मूढ नहीं देखते हैं, ज्ञान के नेत्र वाले देखते हैं।१०। योगीजन यत्न करते २ इसको अपने अन्दर स्थित देखपाते हैं, पर अशुद्ध चित्त के मन्दमति लोग यत्न करते हुए भी नहीं देखते हैं।१२।

(४१) वस्तुतः जैसे इस सृष्टि में कारण प्रकृति है, वैसे ही पुरुष भी है, क्योंकि इन दोनों के सम्बन्ध से परमात्मा ने सृष्टि को रचा है, सो जैसे घर बनाने में राज के लिये ईंट लकड़ी आदि सभी घर बनाने की प्रकृति है, इस तरह जगत् रचना में प्रकृति और पुरुष दोनों ही परमात्मा की प्रकृति हैं, इनमें से एक जड़ प्रकृति है, दूसरी चेतन। जड़ प्रकृति से चेतन प्रकृति सूक्ष्म होने से जड़ अपरा प्रकृति कहलाती है, और चेतन परा प्रकृति। इन दोनों से परे इन दोनों का अधिष्ठाता परमात्मा है, इस लिये पहले प्रकृति का फिर आत्मा का तदनन्तर परमात्मा का ज्ञान होता है:-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। ७। ४
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७

पृथिवी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार इन आठ भेदवाली मेरी प्रकृति है। ४। यह अपरा (वरे की निचली) है, अब मेरी दूसरी प्रकृति को जान, जो परा (परे की, उत्कृष्ट) है, वह जीवरूप है, जिस से यह जगत् धारण किया जाता है। ५। यह जान, कि यही दोनों (प्रकृतियें) सारे भूतों

का कारण है, मैं (परमात्मा) सारे जगत का उत्पन्न करने वाला और संहार करने वाला हूं। ६। मुझ से परे कुछ और नहीं है, हे अर्जुन! यह सब मुझ में इस तरह भोया हुआ है, जैसे तागे में मोतियों की लड़ी ॥ ७ ॥

(४४) इस जगत की प्रवृत्ति और स्थिति सारी परमात्मा पर निर्भर है, चेतन जगत और जड़ जगत सब परमात्मा के सहारे पर खड़ा है, और उसी का सहारा लेकर अपनी २ शक्ति दिखलाता है, मानो उसके बिना यह कुछ है ही नहीं, इस अभिप्राय को गीता में कई जगह पर वर्णन किया है:—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशि सूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु। ७। ८।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चाऽस्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु। ९।
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्। १०।
बलं बलवतामस्मि कामराग-विवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। ११।

हे अर्जुन! मैं जलों में रस हूं, सूर्य्य और चन्द्र में प्रकाश हूं, सारे वेदों में ओंकार हूं, आकाश में शब्द हूं, और मनुष्यों में पौरुष हूं। ८। पृथिवी में पवित्र गन्ध हूं, अग्नि में तेज (दहन शक्ति) हूं, सब भूतों में जीवन हूं, और तपस्वियों में तप (सर्दी, गर्मी आदि के सहन का सामर्थ्य) हूं। ९। हे अर्जुन मुझे तू समस्त

भूतों का सनातन बीज जान, बुद्धिमानों की मैं बुद्धि हूं, और तेजस्वियों का तेज हूं। १०। बलवानों का तृष्णा और लगाव से रहित बल मैं हूं, हे भरतों में श्रेष्ठ! मैं सब भूतों में अपने कर्तव्य के अविरुद्ध इच्छा हूं॥ ११॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।९।१६।
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च।१७।
गतिर्भर्ता प्रभुःसाक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।१८।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।१९।

मैं क्रतु (सोमयज्ञ) हूं, मैं यज्ञ (महायज्ञ) हूं, मैं स्वधा हूं, मैं औषध हूं, मैं मन्त्र हूं, मैं ही घी हूं, मैं ही हवनकर्म हूं।१६। मैं इस जगत का पिता माता धाता और पितामह हूं, जानने योग्य पवित्र वस्तु, ओंकार ऋक् साम और यजु हूं।१७। गति (ठौर ठिकाना) भर्ता (भरणपोषण करने वाला) प्रभु (मालिक नियन्ता) साक्षी (कर्मों का), निवास (रहने की जगह) शरण (पनाह), सुहृद् हूं, उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का आधार हूं, सब का भण्डार और सबका अविनाशी बीज हूं।१८। मैं तपाता हूं, मैं वर्षा को थामता हूं और छोड़ता हूं, हे अर्जुन! मैं अमृत और मृत्यु (जीवन और मौत) हूं, मैं सत और असत (व्यक्त और अव्यक्त) हूं।१९।

इसी अभिप्राय से दसवें अध्याय में विभूतियों का वर्णन किया है, जिसके अन्त में कहा है:—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।१०।३९
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एषतूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।४०।
यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेववा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।४१।

और जो कोई सब भूतों का बीज है, वह मैं हूं, (क्योंकि) कोई ऐसा चर अचर भूत नहीं है, जो मेरे बिना होसके। ३९। हे अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, किन्तु यह विभूति का विस्तार मैंने नमूने के तौर पर कहा है। ४०। जो जो २ ऐश्वर्य वाली शोभा वाली वा शक्ति वाली वस्तु है, उस २ को ही मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान। ॥४१॥

(४५)फिर ग्यारहवें अध्याय में भगवान् का विराट् रूप जिस सौन्दर्य के साथ वर्णन किया है, वह सारा ही बड़ा रसिक और भक्ति का उत्पादक है, उस में से कुछ श्लोक नीचे देते हैं:—

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रंपश्यामित्वांसर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर
विश्वरूप ।११।१६। किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।पश्यामित्वां दुर्निरीक्ष्यं

समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युति मप्रमेयम् ॥ १७ त्वमक्षरं
परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो
मतो मे।१९। अनादिमध्यान्त मनन्तवीर्यमनन्तबाहुं
शशिसूर्यनेत्रम् । पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्। १९। द्यावापृथिव्यो
रिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्
।२०। अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्
भीताः प्राञ्जलो गृणन्ति। स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षि
सिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुत-
श्चोष्मपाश्च । गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां
विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२

(अर्जुन कहता है, हे भगवन्!) तुझे मैं अनेक भुजा अनेक उदर और मुख और अनेक नेत्रों वाला देखता हूं, सब तर्फ से तुझे अनन्त रूपों वाला देखता हूं, हे विश्व के मालिक! हे विश्वरूप! न तेरा अन्त न आदि न मध्य देखता हूं।१६। तुझे मुकट वाला गदावाला चक्रवाला देखता हूं*, ऐसा तेज का पुञ्ज जिस के चारों

---

*गदा एवं दण्डधारी राजा के रूप में वर्णन है।

ओर चमक ही चमक है, जलती हुई अग्नि और सूर्य की तरह चमक वाला, तुझ को ऐसा देखता हूं, जिसकी तर्फ आंख नहीं उठाई जाती, और जो जाना नहीं जाता।१७। तू अविनाशी परमात्मा जानने योग्य है, तू इस सारे विश्व का परम भंडार है, तू सदा एकरूप रहने वाला सदा रहने वाले धर्म (वैदिक धर्म) का रक्षक है, मैं तुझे सनातन पुरुष मानता हूं।१८। मैं तुझे ऐसा देख रहा हूं, जिस का आदि अन्त और मध्य नहीं है, जिस की शक्ति का पारावार नहीं, जिस की भुजा अनन्त हैं, चन्द्र और सूर्य जिस के नेत्र हैं, प्रदीप्त अग्नि जिसका मुख है, जो अपने तेज से सारे विश्व को तपा रहा है। १९। द्यौ और पृथिवी का सारा अन्तराल और सारी दिशाएं तुझ एकले ने घेरी हुई हैं, तेरा यह अचरज घोर रूप देखकर हे महात्मन्! त्रिलोकी कांप रही है। २०। यह देवताओं के समूह तुझ में प्रवेश कर रहे हैं, और कई भयभीत हुए हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं, महर्षि और सिद्धों के समूह बड़े २ स्तोत्रों से तेरी स्तुति कर रहे हैं। २१। रुद्र आदित्य वसु साध्य विश्वेदेव अश्वि मरुत और पितर तथा गन्धर्व, यक्ष असुर और सिद्धों के समूह सभी हैरान हो तुझे देख रहे हैं॥

(४६) परमात्मा के विषय में गीता में इतना गहरा विश्वास पाया जाता है, कि परमात्मा के आस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं दिया है, इस विषय को इतना स्वतः सिद्ध माना है कि प्रमाण देना अनावश्यक समझा है। यद्यपि १६।८ में ईश्वर से इन्कार करने वालों का वर्णन है, पर वह शौच आचार सचाई और ज्ञानादि में इतने गिरे हुए बतलाए गए हैं, कि उन के कहने की कोई परवाह नहीं हो सक्ती है।

(४७) प्रकृति पुरुष और परमात्मा का स्वरूप अलग २

दिखला दिया है. देह इन्द्रिय और विषय सब प्रकृति का विकार हैं, आत्मा निर्विकार है, और परमात्मा दोनों से अलग दोनों का अधिष्ठाता है, इस विषय को इस प्रकार फिर वर्णन किया है:-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। १६। १५
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः। १७
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८

इस लोक में दो पुरुष हैं, एक बदलने वाला, दूसरा न बदलने वाला। सारे भूत (जीवों के शरीर) बदलने वाला पुरुष है, और अहिरन की तरह स्थित (आत्मा) न बदलने वाला कहलाता है।१६। उत्तम पुरुष इन दोनों से अलग है, जो परमात्मा कहा जाता है, जो अविनाशी मालिक तीनों लोकों में प्रवेश कर सबका धारण पोषण करता है।१७। जिस लिये मैं बदलने वाले (शरीर) से उत्तम हूं, और न बदलने वाले (आत्मा), से भी उत्तम हूं इस लिये लोक और वेद में पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूं॥१८॥

(४८) गीता का यह स्पष्ट सिद्धान्त है, कि कर्म उपासना और ज्ञान यह तीनों मनुष्य में एक साथ रहने चाहियें, और हर एक अपनी बंधी हुई अवस्था में होना चाहिये। सो कर्म को बन्धक मानकर त्याग देना भ्रान्ति है, अतएव त्याग के विषय में श्रीकृष्ण ने अपना निश्चय इस तरह प्रकट किया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८।५
एतान्यपितु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६

यज्ञ दान और तप का कर्म नहीं त्यागना चाहिये,यह करने ही योग्य हैं, क्योंकि यज्ञ दान और तप बुद्धिमानों के पवित्र करने वाले हैं।५। इन कर्मों को भी हे अर्जुन ! संग (करने में लगाव) और फल को त्याग कर करना चाहिये, यह मेरा निश्चित उत्तम मत है ॥ ६ ॥

फिर भी इस बात को बड़े बलपूर्वक कहा है:-

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म फलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।१८।११

देहधारी अशेष कर्मों को त्याग सकता ही नहीं है, सो जो कर्मों के फल का त्यागी है, वह त्यागी कहलाता है ।

(४९)संन्यास आश्रमकी मुख्यता त्याग में है,वह त्याग हृदय का भाव है, इसलिये यह होसकता है, कि गृहस्थ में रहता हुआ भी पुरुष हृदय में सर्व त्याग को धारण कर सके, गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण और उपदेश्य श्रीअर्जुन दोनों गृहस्थ थे । श्रीकृष्ण अपने अनुभव से कहते हैं, कि जिसने अपने हृदय को उदार भावों से भर दिया है, वह संसार में रहता हुआ भी संसार से अलग है :-

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा । ५।१०।

जो कर्मों को परमात्मा पर डालकर अपना संग त्यागकर

करता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता, जैसे कमल का पत्ता पानी से (पानी में रहता हुआ पानी से लिप्त नहीं होता)।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।५।१८
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९

पण्डित जन वह हैं, जो विद्या या विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में, और चाण्डाल में समदर्शी हैं। १८। उन्होंने इसी लोक में सृष्टि को जीत लिया है, जिनका मन समता में स्थित है, क्योंकि ब्रह्म दोषों (राग द्वेषादि) से रहित है, (सब के लिये) सम है, इसलिये वह ब्रह्म में स्थित हैं।१९।

(५०) जीवों की उत्पत्ति और उस उत्पत्ति में परमात्मा का सम्बन्ध इसतरह वर्णन किया है।—

ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १४।३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

मेरी योनि है प्रकृति, उसमें मैं गर्भ (बीजपुञ्ज) को धरता हूं, उस (गर्भ धारण) से सारे भूतों की उत्पत्ति होती है हे भारत ! ३। हे कुन्ती के पुत्र ! सारी योनियों में जो मूर्तियां (शरीर) उत्पन्न होती हैं, उन सब की योनि प्रकृति है, और मैं बीजदाता पिता हूं। ४।

(५१) सत्त्व रज तम यह तीन गुण प्रकृति के हैं, यही पुरुष को

संसार में बांधते हैं, आत्मा और परमात्मा को छोड़ दो, फिर जो नाम जगत् में वस्तु है, सब में यह तीनों गुण पाए जाते हैं, चाहे वह किसी जीव का शरीर हो, वा इन्द्रिय हो, वा मन वा मन का कोई भाव हो, अथवा कोई बाह्य वस्तु हो, इन तीनों गुणों के सम्बन्ध से अलग कोई वस्तु नहीं है। इनमें से तमोगुण निकृष्ट है, रज उससे उत्तम है, और सत्त्व सब से उत्तम है। अतएव तमोगुणी वस्तु से रजोगुणी और रजोगुणी से सत्त्वगुणी श्रेष्ठ होती है, और तमोगुणी पुरुष से रजोगुणी और रजोगुणी से सत्त्वगुणी श्रेष्ठ होता है। सत्त्वगुणी पुरुष श्रेष्ठ होता है, पुण्यात्मा होता है, पर यह उसकी सारी महिमा संसारियों में गिनी जाती है। जो संसार को जीत चुका है, वह गुणों के सम्बन्ध से परे निकलजाता है, उसी को गुणातीत कहते हैं। यद्यपि उससे कर्म स्वभावतः पुण्यरूप ही होते हैं, पर वह हमारी दृष्टि में पुण्यरूप होते हैं, वह स्वयं पुण्य पाप की वासना से ऊपर चढ़जाता है। गीता में गुणों का और गुणातीत इस तरह वर्णन है।

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ १४। ५
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशक मनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंग समुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत । ८ ।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत । ९

हे महाबाहो ! प्रकृति से प्रगट होने वाले सत्त्व रज तम यह तीनों गुण अविनाशी आत्मा को देह में बांधते हैं ॥ ५ ॥ उन में से सत्त्व गुण स्वच्छ है, इसलिये प्रकाशक है और आरोग्यदायक है, वह हे निष्पाप ! सुख और ज्ञान के संग (लगाव) से (आत्मा को देह में) बांधता है (सुख और ज्ञानमें लगाव पैदा करदेता है) ॥६॥ रजोगुणको तू राग (स्वाहिश) रूप जान, रजोगुण से तृष्णा और संग (लगाव) की उत्पत्ति होती है, हे कुन्तीके पुत्र ! वह कर्म के संग से आत्मा को बांधता है (कर्म में लगाव पैदाकर देता है) ॥ ७ ॥ और तमोगुणको अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला और सारे देहधारियों का मोहनेवाला (धोखे में डालनेवाला) जान, हे भारत ! वह प्रमाद आलस्य और निद्रा से (देहीको) बांधता है ॥ ८ ॥ सत्त्वगुण हे भारत ! सुख में लगाव पैदा करता है, रजोगुण कर्म में, और तमोगुण ज्ञान पर परदा डालकर प्रमादमें लगाव पैदा करता है ॥ ९ ॥

(९२) हरएक मनुष्य में तीनों गुण वर्तमान रहते हैं, इन में से जो प्रबल होता है, वह दूसरों को दबाकर आप प्रगट होता है और अपना कार्य दिखलाता है:–

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा १०॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एवच ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे भारत! सत्त्वगुण रज और तम को दबा कर प्रगट होता है, इसी तरह रजोगुण सत्त्व और तम को दबा कर, और तमोगुण रज और सत्त्व को (दबाकर प्रगट होता है) ॥ १० ॥ जब देह के सारे द्वारों (इन्द्रियों) में प्रकाश बढ़ता है, तब जाने; कि सत्त्व बढ़ा हुआ है ॥ ११ ॥ हे भरतों में श्रेष्ठ! जब रज बढ़ता है, तब लोभ, प्रवृत्ति (काम में लगे रहना), (नए नए) कर्मों का आरम्भ, अशान्ति (भटकना) और स्पृहा (इधर उधर से ग्रहण की इच्छा) उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥ और हे कुरुनन्दन! जब तम बढ़ता है, तब प्रकाश और प्रवृत्तिका अभाव होता है, और प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

सत्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एवच ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेवच ॥ १७ ॥

सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, रज से लोभ उत्पन्न होता है, तम से प्रमाद मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं।

(२१) बाह्य वस्तुओं में और मन के भावों में भी गुणों का भेद पाया जाता है, उनमें से कई एकका जानना बहुत उपयोगी जान कर यहां लिखते हैं। आहार के विषय में जैसे—

आयुः सत्त्वबलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विकप्रियाः ।
कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसं प्रियम् ।

आयु, सत्त्व (दिलेरी) बल आरोग्य सुख और प्रीति के बढ़ाने वाले, रसवाले, स्नेहवाले स्थिर (सारवाले, लम्बे फलवाले) और हृदय के अभिमत (दिल पसन्द) आहार सात्त्विक पुरुषों को प्यारे होते हैं । ८ । कड़वे, खट्टे, नमकीन, अतिगर्म, तीखे, (तेज) रूखे (खुश्क) और मुंह जलाने वाले (राई आदि) आहार रजोगुणी को प्यारे होते हैं, जो परिणाम में दुःख शोक और रोग के देनेवाले हैं । ९ । देर का बनाहुआ, दूर हुए रसवाला, दुर्गन्धि, बासी और अपवित्र भोजन तमोगुणियों को प्यारा होता है । १० ।

इस लक्षण से हरएक पुरुष अपने लिये देख सकता है, कि मेरी रुचि किस तर्फ है, और मुझे कैसे आहार से सत्त्व गुण अपने अन्दर बढ़ाना चाहिये ।

५४–तप के विषय में भेद–जो लोग यूं ही शरीर को कष्ट देकर घोर तप तपते हैं, उनके तपों को शास्त्रविरुद्ध बतलाकर (१७ । ५ । ६) सच्चे तप को बड़े सुन्दर रूप में इसतरह वर्णन किया है ।

देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौच मार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १७।१४
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते। १५
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते। १६।

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानियों की पूजा, (अन्दर बाहर की) शुद्धि, (वेष और आचार में) सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा (किसी को पीड़ा न पहुंचाना) यह शारीरिक तप कहलाता है। १४। वाक्य जो उद्वेगकारी, (क्षोभकारी, जोश दिलानेवाला, दिल दुखानेवाला) न हो, सत्य हो प्रिय और हित हो, और स्वाध्याय का अभ्यास यह वाचिक तप कहलाता है। १५। मन की सफाई (राग द्वेष से रहित होना) सौम्यभाव (नर्मदिली) मन का दूसरों की भलाई में झुके रहना) मनन (चिन्तन) मन को वश में रखना, और भावना की शुद्धि (व्यवहारादि में छल कपट से रहित होना) यह मानस तप कहलाता है। १६।

यह कैसा सुन्दर तप है। वही असली तपस्वी है, जिसका शरीर वाणी और मन इस तप में तपा हुआ हो। इस तप के लिये घर छोड़ने की भी जरूरत नहीं, घर में रहकर तुम इसको पूरा कर सकते हो, और करना चाहिये।

५५—दान के विषय में भेद—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्। १७

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२

देना है, केवल इस भावना से जो दान उसको दिया जाता है, जिससे उसका बदला कुछ नहीं लेना है, और देशकाल तथा पात्र को देखकर दिया जाता है, वह दान सात्विक माना गया है, २० । पर जो प्रत्युपकार (बदले में लाभ उठाने) के अर्थ, अथवा फल का उद्देश्य करके दिया जाता है, और तंगी से दिया जाता है वह दान राजस माना गया है । २१ । जो दान देशकाल के विरुद्ध और अपात्रों को दिया जाता है, और (पात्रों को भी) बिना सत्कार किये वा अनादर से दिया जाता है, वह तामस माना गया है । २२

लोगों को सात्विक दान का भाव अपने अन्दर पैदा करना और बढ़ाना चाहिये, राजस तामस नहीं ।

(५६) जो गुणों की हद में है, वह संसार से परे नहीं होता, तमो गुण का फल अगला जन्म मूढ योनियों में होता है, रजोगुण का कर्म संगियों में और सत्त्वगुण का प्रकाशमय लोकों में (देखो गीता १४–१५–१६–१८)

(५७) पर जब गुणों की हद से ऊपर होजाता है, तब वह अमृत को प्राप्त होता है–

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्म मृत्यु जरा दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते१४॥२०॥

देह के उत्पन्न करनेवाले इन तीन गुणों को उलांघकर जन्म मरण, बुढापे और दुःखों से छूट कर अमृत को भोगता है ॥२०॥

(९८) गुणोंकी हद से ऊंचा होजाने पर मोक्ष मिलता है,इस वचन को श्रीकृष्ण के मुख से सुनकर अर्जुन पूछता है—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते॥२१॥

हे प्रभो! गुणातीत पुरुष के क्या चिन्ह होते हैं, क्या आचार होता है, और कैसे इन तीन गुणों को उलांघता है ।

इन तीनों प्रश्न का उत्तर श्रीकृष्ण यह देते हैं—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥२२
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो नविचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठतिनेङ्गते॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४
मानापमानयोस्तुल्य स्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

हे पाण्डव ! जो पुरुष प्रवृत्त हुए प्रकाश प्रवृत्ति और मोह से द्वेष नहीं करता है, और निवृत्त हुओं की इच्छा नहीं करता है, ॥ २२ ॥ उदासीन की तरह स्थित हुआ जो गुणों (के कार्यों) से नहीं हिलाया जाता है, किन्तु गुण (अपने कार्यों में) वर्तते हैं, ऐसा जानकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है, डोलता नहीं है॥२३॥ जिस को सुख और दुःख तुल्य हैं, जो अपने स्वरूप में स्थित है, जिस को ढेला पत्थर और सोना तुल्य हैं, जिस को प्रिय और अप्रिय तुल्य हैं, जो धैर्यवाला है, जिस को अपनी निन्दा और स्तुति तुल्य है ॥ २४ ॥ जो मान अपमान में तुल्य है, जो मित्रपक्ष

और शत्रुपक्ष में तुल्य है; जो सारे धंधे त्याग चुका है, वह गुणातीत कहलाता है ॥ २५ ॥ मुझे जो अव्यभिचारी भक्ति योग से भजता है, वह इन गुणों को लांघकर ब्रह्मभाव (मोक्ष) के योग्य होता है ॥ २६ ॥

(६०) गीता का सब से बड़ा मर्म यह है, कि मनुष्य अपने कर्तव्य पालन में तनिक भी त्रुटि न करे, और जो कुछ करे, सब परमात्मा के अर्पण करे, परमात्मा पर उसका पूरा भरोसा हो, जैसा कि समाप्ति में पहले वर्णों के कर्तव्य कहकर फिर अर्जुन को प्रेरणा किया है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥१८।४२
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४

शम, दम (अपने ऊपर काबू), तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान), विज्ञान (अनुभव), आस्तिकता (ईश्वर पर विश्वास), यह ब्राह्मण का स्वभावजन्य कर्म है। ४२। शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता (निपुणता, फुर्तीलापन), युद्ध में न भागना, दान (उदारता) और ईश्वरभाव (हकूमत करने का स्वभाव), यह क्षत्रिय का स्वभावज कर्म है। ४३। खेती, गौओं की रक्षा और व्यापार वैश्य का स्वभावज कर्म है, सेवा रूप कर्म शूद्र का भी स्वभावज है। ४४।

अपने २ स्वाभाविक कर्तव्य का पालन परमात्मा की पूजा है और अपने कर्तव्य का पालनेवाला हरएक वर्ण का पुरुष सिद्धि को प्राप्त होता है।

(६१) समाप्ति में भगवान की अर्जुन को प्रेरणा—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव । १८।५७।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

चित्त से सारे कर्मों को मेरे समर्पण करके, मेरे परायण हुआ, बुद्धियोग का आश्रय करके सदा मुझमें चित्तवाला हो। ५७ मुझमें चित्तवाला हुआ तू मेरे अनुग्रह से सारे संकटों को तरजाएगा और यदि अहङ्कार से नहीं सुनेगा, तो विनष्ट होगा ॥ ५८

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८ । ६१
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

हे अर्जुन! ईश्वर सब भूतों के हृदय देश में स्थित है। और माया से यन्त्र पर चढ़े हुए सब भूतों को घुमा रहा है। ६१। हे भारत! सारी भावना से उसी की शरण ले,उसकी कृपा से परम शान्ति और नित्य स्थान को प्राप्त होगा।

(६२) और यह सारे रहस्यों का रहस्य है, कि :-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।६५

मुझमें चित्तवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजनेवाला हो, मुझे नमस्कार कर, तब तू निःसन्देह मुझे प्राप्त होगा, तेरे लिये सच्ची प्रतिज्ञा करता हूं, क्योंकि तू मेरा प्यारा है। ६४। सो तू सारे धर्मों को त्यागकर अकेली मेरी शरण पकड़! मैं तुझे सारे पापों से छुड़ाऊंगा, मत शोक कर। ६५। ओंतत्सत्

ग्यारह उपनिषदें—

(१) ईश	=)	(८) ऐतरेय	≡)
(२) केन	≈)	(९) छान्दोग्य	२)
(३) कठ	।≈)	(१०) बृहदारण्यक	१≈)
(४) प्रश्न	।)	(११) श्वेताश्वेतर	।)॥
(५-६) मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी	।-)	ग्यारह इकट्ठी लेने में केवल	६॥≈)
(७) तैत्तिरीय	।≡)		

(१२) **उपनिषदों की भूमिका**—उपनिषदों की हर एक बात इसमें थोड़े में बतलाई गई है, **अद्वैत विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत** मतों का भी वर्णन है।

(१३) **उपनिषदों की शिक्षा**—अर्थात् 'उपनिषदें हमें क्या सिखलाती हैं' यह पुस्तक चार भागों में छपी है, इसमें उपनिषदों के सारे विषय आजाते हैं। जैसे परमात्मा की बाबत जो२ बात जिस२ उपनिषद् में लिखी है, वह सब एक जगह इकट्ठी की गई है। मूल उपनिषद् भी और हिन्दी भाष्य भी, और इसके सिवाय उसी विषय के वेदमन्त्र भी और दूसरे प्रमाण भी लिखे गए हैं। इसी तरह आत्मा आदि की बाबत समझो, पुस्तक बड़ी ही मनोरञ्जक है, और इससे वाकफ़ीयत बहुत बढ़ती है-मूल्य इस प्रकार है।

पहला भाग—परमात्मा के वर्णन में-विषय ३७-मू० ॥≈)

दूसरा भाग—आत्मा और पुनर्जन्म के वर्णन में-विषय ६८-मू० ॥)

तीसरा भाग—मरने के पीछे की अवस्थाओं, कर्म चरित्र और सामाजिक जीवन के वर्णन में-विषय ६५-मू ॥)

चौथा भाग—उपासना, उसके फल और मुक्ति के वर्णन में-विषय ८९-मू० ॥≈)

दर्शन शास्त्र

(१४) **नवदर्शन संग्रह**—आर्यावर्त में नौ दर्शन बने हैं-छः जो प्रसिद्ध हैं, और तीन यह-नास्तिक, बौद्ध और जैन । नव-दर्शन संग्रह में इन नौ के सिद्धान्तों का पूरा वर्णन है, दर्शनों के सिद्धान्त और उनके आपस में भेद, इस ग्रन्थ से बड़ी आसानी के साथ समझ में बैठ सक्ते हैं, अवश्य पढ़ने योग्य है-मू १)

(१५) **वेदान्त दर्शन**—सम्पूर्ण चारों अध्याय, भाष्य बड़ा खोलकर किया हुआ है-दो जिल्दों में, मूल्य ३॥)

(१६) **योगदर्शन** ॥) * (१७) **पारस्कर गृह्यसूत्र**—सूत्रों का भाष्य मन्त्रों के अर्थ, संस्कारों की पद्धतियां, सब खोल कर दीगई हैं। मू० १॥) (१८) **वासिष्ठ धर्म सूत्र**—महर्षि वसिष्ठ का धर्म शास्त्र ।)॥ (१९) **उपदेशसप्तक**—वेद आदि सब शास्त्रों के आधार पर धर्म के उपदेश ।-) (२०) **वेद उपदेश** वेद का उपदेश परमात्मा के विषय में मू० ॥) (२१) **शंकराचार्य का जीवन चरित्र**—कुमारिल भट्टाचार्य और मण्डन मिश्र का जीवन चरित्र भी साथ है ॥) (२२) **प्रार्थना पुस्तक** -) (२३) ओंकार की उपासना और माहात्म्य -) (२४) **वेद और रामायण के उपदेश रत्न** -) (२५) **वेद और महाभारतके उपदेश रत्न** -) (२६) **वेद, मनुस्मृति और गीता के उपदेश रत्न** -)। श्री मद्भगवद्गीता २) (२८) 'गीता हमें क्या शिक्षा देती है' ।)

पता—राजाराम सम्पादक

आर्षग्रन्थावलि लाहौर ॥